वीर संवत २४९२, फाल्गुन शुक्ल १, सोमवार

दि. २१-२-१९६६, ढाल-६, श्लोक-८. प्रवचन नं. ४९

'दौलतरामजी' कृत 'छहढाला'। छठी ढाल का आठवाँ श्लोक। देखो ! क्या कहते हैं ? जिस प्राणी ने अपने शुद्ध स्वरूप की दृष्टि पहले की हो... पहले दर्शन-ज्ञान आ गया है। अपना स्वरूप शरीर, वाणी, मन से भिन्न है और पुण्य और पाप के राग से भी अपना स्वरूप बिलकुल भिन्न है। ऐसे अपना निज आनन्दस्वरूप की दृष्टि की हो। मैं शरीरादि परपदार्थ की क्रिया का करनेवाला नहीं, क्योंकि मेरे अस्तित्व में-मेरी मौजूदगी में वह तत्त्व नहीं। मेरी मौजूदगी में जो तत्त्व नहीं, उसका में करनेवाला, बदलानेवाला, मिटानेवाला या रक्षक मैं हो सकता नहीं। समझ में आया ?

कहते हैं कि, पहले ऐसे शुद्धस्वरूप की श्रद्धा और ज्ञान करते हैं तो उसमें स्वरूपाचरण ध्यान कैसा होता है ? अर्थात् प्रथम सम्यग्दर्शन प्राप्ति के काल में क्या होता है ? और बाद में, सम्यग्दर्शन के बाद भी जब-जब अपने स्वरूप का ध्यान करते हैं, तब कैसी दशा, किस प्रकार की होती है ? वह वर्णन करते हैं। भाषा समझते हो न ? आपकी हिन्दी है, यहाँ हिन्दी चलती है।

'**स्वरूपाचरण-चारित्र (शुद्धोपयोग) का वर्णन।**' आठवीं गाथा। आत्मा एक सैकण्ड के असंख्य भाग में अनन्त ज्ञान, दर्शन, आनन्द संपन्न (है)। उसमें शुभभाव जो दया, दान, व्रत, भक्ति, तपस्या का शुभविकल्प जो उठता है, वह शुभभाव है, वह पुण्यबन्ध का कारण है; और हिंसा, झूठ, चोरी, विषयभोग वासना ऐसा अशुभ उपयोग, अशुभ उपयोग, पापबन्ध का कारण है। दोनों उपयोग-शुभ और अशुभ को अशुद्ध उपयोग कहते हैं। दोनों उपयोग का अन्तर व्यापार-शुभ हो या अशुभ हो, दोनों अशुभ व्यापार है। भाई !

पहले उसे निर्णय करना पड़ेगा या नहीं ? कि, क्या चीज है ? कैसे प्राप्त होती है ? और अनन्त काल में क्यों प्राप्त हुआ नहीं ? अनन्त काल में उसने दृष्टि अपने शुद्ध एकान्त एकाकार

आनन्दस्वरूप पर की नहीं। श्रद्धा में भी लिया नहीं कि, मेरा स्वरूप निर्विकल्प आनन्द है, उसमें मैं एकाकार होऊँ तो मुझे धर्म होगा। ऐसी प्रथम श्रद्धा भी की नहीं। समझ में आया ? अनादिकाल से अशुभभाव करता है, उसमें मीठास आती है तो उसमें मुझे मजा आता है, वह तो मिथ्यात्वभाव (है)। दु:ख में मजा मानना वह मिथ्यात्वभाव है, और शुभभाव आता है, वह भी दु:खरूप भाव है। भाई ! समझ में आया ? आहा..हा... !

कहते हैं, दया, दान, व्रत, भक्ति आदि भाव होते हैं, परन्तु वह भाव शुभ आचरणरूप शुभभाव, पुण्यबन्ध का कारण, अशुद्ध उपयोगरूप उसे कहते हैं। अब, दो उपयोग के अलावा, आत्मा की शुद्धोपयोगदशा, का नाम भगवान सर्वज्ञ परमेश्वर, धर्म कहते हैं। समझ में आया ? शुद्ध उपयोग। शुभ-अशुभ दो भाव अशुद्ध उपयोग (है)। उससे रहित शुद्ध चिदानन्द भगवान पूर्ण आनन्दस्वरूप की ओर दृष्टि लगाकर उसमें स्थिर होना, उसको यहाँ स्वरूपचारित्र-स्वरूपाचरणचारित्र कहते हैं। यह चारित्र, यह चारित्र यथार्थ चारित्र है। समझ में आया ? सम्यग्दर्शन से लेकर यह स्वरूपाचरण चारित्र प्रगट होता है। चारित्र का भाव, शुद्ध स्वरूपाचरण का भाव सम्यग्दृष्टि (होते समय) पहले से उत्पन्न होता है। मुनियों को भी सच्चा आत्मदर्शन, आत्मज्ञान, अनुभव हुआ हो तो उनको भी शुद्ध उपयोग का आचरण, चारित्र में निर्विकल्प आनन्द का ध्यान होता है, उसको स्वरूपाचरणचारित्र कहते हैं। उसको शुद्ध उपयोग कहते हैं। समझ में आया ?

यहाँ अब 'दौलतरामजी' छठवीं ढाल में स्वरूपाचरण (चारित्र का स्वरूप कहते हैं)। आत्मा शुद्धस्वरूप (है), उसका आचरण, समझ में आया ? स्वरूपाचरण शब्द पड़ा है न ? **'स्वरूपाचरणचारित्र (शुद्धोपयोग)'**। सम्यग्दर्शन आत्मा के ज्ञान बिना पंच महाव्रत का परिणाम हो, अट्ठाईस मूलगुण का परिणाम हो, सब शुभ हैं, सब दु:खरूप हैं। समझ में आया ? आत्मा का अन्दर चैतन्य स्वभाव शुद्ध आनन्दकन्द स्वरूप अनादि अनन्त सर्वज्ञ परमेश्वर ने त्रिलोकनाथ तीर्थंकरदेव ने जिसे आत्मा कहा, वह आत्मा शरीर, वाणी तो नहीं, पुण्य-पाप भी आत्मा नहीं, एक समय की वर्तमान प्रगट अवस्था भी निश्चय आत्मा नहीं। एक समय का ज्ञान, दर्शन, वीर्य का विकासरूप भाव जितना भी निश्चय आत्मा नहीं, वह व्यवहार आत्मा है। व्यवहार आत्मा अभूतार्थ है, सच्चा आत्मा नहीं। आहा..हा... ! कठिन बात, भाई ! क्या

बराबर ? इतना सूक्ष्म है, फिर भी बराबर ? बराबर है।

शरीर, वाणी जड़ (है), वह तो आत्मा नहीं। कर्म अन्दर है, वह आत्मा नहीं। शुभ-अशुभभाव आत्मा नहीं, वह तो आस्रवतत्त्व है। ये शरीर, वाणी, कर्म तो जड़तत्त्व है। अब आत्मा रहा। उसमें दो भाग। एक वर्तमान ज्ञान, दर्शन, वीर्य का विकासरूप क्षयोपशम विकासभाव, वह तो व्यवहार आत्मा है, एक समय की पर्याय व्यवहार आत्मा है। व्यवहार आत्मा का अर्थ क्या ? वह अभूतार्थ आत्मा है। त्रिकाल एकस्वरूप भगवान आत्मा शुद्ध आनन्द आदि अनन्त गुण का पिंड, शुद्धस्वरूप ध्रुव, वह भूतार्थ आत्मा, सच्चा आत्मा (है)। उसका सच्चा स्वरूप भूतार्थ शुद्ध त्रिकाल, उसका नाम सच्चा स्वरूप है। बहुत सूक्ष्म बात, भाई ! समझ में आया ? यह तो सादी हिन्दी भाषा है, इस में कोई ऐसी (कठिन) नहीं है, गुजरातीवाले कहे कि, हमें समझ में नहीं आती, वह बात बैठती नहीं। भाई ! इतनी सादी (है)। (ये मुमुक्षु) बोलते हैं-ऐसी हिन्दी हमको नहीं आती। ए..ई.. ! तुम्हारी भाषा हमको आती है ? यह तो सादी सरल गुजराती जैसी (है)।

भगवान आत्मा.. ! यहाँ तो सीधी बात, सरल बात है। आहा..हा... ! प्रभु ! तुझे आत्मा कहा, आत्मा कहा। वह आत्मा क्या चीज है ? आत्मा क्या चीज है ? आत्मा कौन है ? तो कहते हैं, शुद्धस्वरूप आचरण। यह स्वरूप की व्याख्या चलती है। स्वरूप तो एक सैकण्ड के असंख्य भाग में ध्रुव वस्तु, ध्रुव सामान्य अखंडानन्द ज्ञायक वह स्वरूप, वह वस्तु-वह निश्चय आत्मा, वह भूतार्थ चीज, अस्तिरूप चीज, त्रिकाली रहनेवाला भगवान-उसका नाम यहाँ स्वरूप कहने में आता है। भाई ! उस स्वरूप का आचरण। समझ में आया ?

ऐसा जो स्वरूप, उसमें आचरण-एकाकार होना, एकाग्र होना उसका नाम स्वरूपाचरणचारित्र (है)। उसका दूसरा अर्थ-शुद्ध उपयोग। उसका दूसरा अर्थ-स्वरूप का आचरणरूप पर्याय, उसको शुद्ध उपयोग कहा। यह शुद्ध उपयोग ही मोक्ष का कारण और धर्म है। भाई ! यहाँ तो दुनिया ने कहाँ का कहाँ मान रखा है। देह की क्रिया, शुभभाव ऐसा हुआ, पंच महाव्रत ऐसा (लिया), अरे... ! भगवान ! वह तो राग है। विकल्प है, देह तो जड़ है।

भगवान आत्मा... एक सैकण्ड के असंख्य भाग में वस्तु... वस्तु.. जिसमें अनन्त अनन्त

केवलज्ञान-जिसके गुण में अनन्त-अनन्त केवलज्ञान पड़ा है। जिसके दर्शन में अनन्त अनन्त केवलदर्शन (है), अनन्त-अनन्त जिसके दर्शन में अन्दर पड़ा है, जिसके अन्दर में अतीन्द्रिय अनन्त-अनन्त आनन्द, अतीन्द्रिय अनन्त आनन्द पड़ा है। जिसके वीर्य में अनन्त-अनन्त वीर्य चतुष्ट प्रगट होता है, ऐसा अनन्त वीर्य जिसमें पड़ा है। जिसमें स्वच्छता की अनन्त पूर्ण पर्याय प्रगट हो, ऐसी स्वच्छता की अनन्त-अनन्त पर्याय जिसके स्वच्छता के गुण में पड़ी है। समझ में आया ? जिसके स्वरूप में-वस्तु में परमेश्वरता-प्रभुता, परमेश्वरता जो एक समय में परमेश्वरपना प्रगट होता है, एक समय में केवलदर्शन आदि परमेश्वरता (प्रगट होती है), ऐसी परमेश्वरता, अनन्त परमेश्वरता-एक प्रभुता नाम के गुण में अनन्त परमेश्वरता अन्दर पड़ी है। सेठिया ! समझ में आया ?

अर्थात् दूसरा बोल कहें तो आत्मा में एक स्वसंवेदन प्रकाश नाम का गुण है। आत्मा में एक स्वसंवेदन प्रत्यक्ष होना-ऐसा अनादि अनन्त गुण है। इस गुण में आत्मा का, पुण्य-पाप के रागरहित, स्वरूप की शुद्ध उपयोग की रमणता-स्वसंवेदन होना, ऐसा-ऐसा स्वसंवेदन सादि आनन्त जो शान्ति का वेदन, अनन्त-अनन्त पर्याय में होता है, ऐसी अनन्त पर्याय एक प्रकाश नाम के गुण में अनन्त स्वसंवेदन पड़ा है। आहा...हा... ! समझ में आया ? ऐसा भगवान.. ये तो चार-पाँच बोल कहे, ऐसे तो अनन्त गुण हैं।

ऐसा अनन्त गुण का पिंड प्रभु, जिसको भूतार्थ आत्मा, अस्तिरूप आत्मा, सच्चा आत्मा, सत्य आत्मा प्रभु आत्मा, पूर्ण आत्मा का अन्दर आचरण करना, उसका नाम स्वरूपाचरणचारित्र, शुद्धोपयोग है (वह) चौथे गुणस्थान से प्रगट होता है। समझ में आया ? ऐसा अनुभव सम्यग्दृष्टि-चौथे गुणस्थान से जब पहला अनुभव सम्यग्दर्शन होता है, तब से होता है। बाद में कभी-कभी, लंबे काल के बाद स्वरूपाचरण का शुद्धोपयग का ध्यान चौथे गुणस्थान में बहुत लंबे काल में आता है। पंचम गुणस्थान में उसे थोड़े काल में और बहुत टिकना, उपयोग में बहुत टिकना (होता है) और थोड़े-थोड़े काल में आता है। मुनियों को तो, जिनको आत्मज्ञान और आत्मदर्शनसहित चारित्र प्रगट हुआ है, ऐसे मुनियों को तो बारम्बार, एक दिन में हजारों बार स्वरूपाचरण-शुद्धोपयोग आता है। आहा..हा... ! समझ में आया ?

सच्चा मुनिपना.. सच्चा सम्यग्दर्शन और सच्चा श्रावकपना और सच्चा मुनिपना, तीनों में

सम्यग्दृष्टि को स्वरूपाचरण शुद्धोपयोग कभी-कभी आता है। पंचम गुणस्थान (में) सच्चा श्रावक हो, उसको स्वरूपाचरणचारित्र का शुद्ध उपयोग बहुत अल्प काल में बहुत टिकता है। मुनि को तो प्रतिक्षण, भगवान जिसको सच्चे मुनि कहते हैं, ऐसे मुनि को तो स्वरूपाचरण उपयोग क्षण-क्षण में आता है। क्षण में अन्दर आनन्दकन्द में झूक जाये। दूसरे क्षण विकल्प उठे, तीसरे क्षण में शुद्ध उपयोग में रम जाये। ऐसा शुद्धोपयोग का आचरण चौथे, पाँचवे, छठवें और सातवें (गुणस्थान में) इसप्रकार का होता है। भाई ! आहा..हा...! अब उसकी आठवीं गाथा, देखो !

'दौलतरामजी' कृता सादी हिन्दी भाषा में, प्रचलित हिन्दी भाषा (में) 'छहढाला' उसकी छठवीं ढाल का आठवां श्लोक है। उसके पहले शब्द का अर्थ किया।

जिन परम पैनी सुबुधि छैनी, डारि अन्तर भेदिया;
वरणादि अरु रागादितैं निज भाव को न्यारा किया।
निजमांहि निजके हेतु निजकर, आपको आपै गह्यो;
गुण गुणी ज्ञाता ज्ञान ज्ञेय मँझार कछु भेद न रह्यो ॥८॥

पहले सातवीं गाथा में आ गया है। सातवें में आया था न ? उसमें से आता है। '**सुनिये स्वरूपाचरण अब**' उसकी अन्तिम पंक्ति। '**जिस होत प्रगटै आपनी निधि, मिटै पर की प्रवृत्ति सब।**' है ? भैया ? आठवीं के पहले सातवीं (की) पंक्ति है। 'दौलतरामजी' पंडित थे, दिगम्बर पंडित (थे)। आत्मा के बहुत यथार्थ ज्ञानवाले थे। समझ में आया ?

कहते हैं कि, '**सुनिये स्वरूपाचरण अब। जिस होत प्रगटै अपनी निधि...**' भगवान आत्मा निधि, अनन्त आनन्द की निधि है। आहा..हा...! अनन्त अनन्त स्वरूप सम्पदा का प्रभु भगवान आत्मा स्वामी है। इस धूल का (स्वामी) नहीं। यथार्थ में आत्मा पुण्य-पाप का भी स्वामी नहीं। पुण्य-पाप का भाव, समझे ? भाव का भी स्वामी नहीं। वह वस्तु विकार है। भगवान आत्मा एक सैकण्ड के असंख्य भाग में.. कहते हैं, अपने स्वरूप पर दृष्टि देने से शुद्ध आचरण में एकाकार होने से '**प्रगटै आपनी निधि...**' निधि तो है। पहले कहा ऐसा आत्मा

निधान है। समझ में आया ?

जैसे छोटी पीपर में चौसठ पहरी चरपराई तो भरी है। चरपराई, छोटी पीपर होती है न ? समझ में आया ? उस छोटी पीपर को चौसठ पहर घोंटे, है तो चौसठ पहरी चरपराई प्रगट होती है। कहाँ से आयी ? पत्थर को घोंटने से आयी ? पत्थर घिसने से आती हो तो कोयला, कंकर घिसने से आनी चाहिए। उसमें है, पीपर में चौसठ पहोरी (चरपराई है)। चौसठ समझे न ? सोलह आना। अब सोलह आने का एक रूपया हो गया। अभी तक तो चौसठ पैसा था न ? सोलह आना। अब तो सौ हो गये। ऐसी सोलह आनी पीपर में चरपराई पड़ी है, हरा रंग पड़ा है, मुलायमपना पड़ा है, ऐसी अनेक शक्तियाँ एक पीपर के दाने में शक्तिरूप निधान पड़ा है। उसको प्रगट करना, पर्याय में प्रगट करना, वह उसका कार्य है।

ऐसे भगवान आत्मा (में) एक सैकेन्ड के असंख्य भाग में पूर्ण आनन्द, ज्ञानादि निधि पड़ी है। जिसको एकाग्र होकर अपना कारण प्रभु, वस्तुस्वरूप जो ध्रुव है, उस स्वरूप में एकाग्र होकर शुद्ध उपयोग के आचरण द्वारा अन्तर की निधि को वर्तमान अवस्था में खोल देना, प्रगट करना, उसका नाम यहाँ शुद्ध उपयोग कहते हैं। आहा..हा... ! वह गाथा ली है। 'छहढाला' है, आप के घर ? घर पर होगी। पैसे हैं तो पुस्तक तो होंगे ही। समझ में आया ? आहा..हा... !

'जिस होत प्रगटै आपनी निधि...' उसका अर्थ क्या किया ? कि, शरीर, वाणी प्रगटे वह कोई अपनी निधि नहीं है। पैसा-बैसा मिले, वह अपनी निधि नहीं। पुण्य-पाप का भाव प्रगट हुआ, वह अपनी निधि नहीं। अपनी निधि भगवान आत्मा अनन्त अनन्त अनन्त बेहद ज्ञान, जिसके स्वभाव की मर्यादा क्या ? जिसका स्वाभाविक ज्ञान, जिसका स्वाभाविक आनन्द, उसकी मर्यादा क्या ? बेहद आनन्द और बेहद अपरिमित ज्ञानादि आत्मा में पड़ा है, वह अपनी निधि है। अन्तर में एकाग्रता होने से वह निधि प्रगट होती है। इस कारण से प्रगटे। शुभभाव से या अशुभभाव से या देह की क्रिया से अपनी निधि कभी प्रगट होती नहीं। समझ में आया ? पहले श्रद्धा (में) तो निर्णय करे। श्रद्धा का पंथ (तो निश्चित करे कि), यही मार्ग है, दूसरा कोई मार्ग है नहीं। आहा..हा... !

कहते हैं कि, भगवान आत्मा, अपनी निधि अपने अन्तर में एकाग्रता होने से प्रगट होती है।

पुण्य के विकल्प से, निमित्त से, व्यवहार से अपने स्वरूप की निधि प्रगट नहीं होती, ऐसा यहाँ कह दिया, भाई ! व्यवहार से प्रगट नहीं होती, उसमें कह दिया ? दया, दान, व्रत, भक्ति, तप, जप आदि अथवा व्यवहाररत्नत्रय देव-गुरु की श्रद्धा, नौं तत्त्व की भेदवाली श्रद्धा और शास्त्र का ज्ञान का व्यवहार आता है, परन्तु उस व्यवहार से अपनी निधि प्रगट होती है, ऐसा नहीं। आहा..हा... ! समझ में आया ? क्या लिखा है ? देखो !

'दौलतरामजी' लिखते हैं, भैया ! है ? लिखते हैं या नहीं ? आप को तो बहुत कंठस्थ है। देखो ! '**जिस होत प्रगटै आपनी निधि, मिटै पर की प्रवृत्ति सब।**' भाई ! पर की प्रवृत्ति का अर्थ-यह शुभरागादि है, वह परप्रवृत्ति है, अपना स्वरूप नहीं। आहा..हा... ! समझ में आया ? अरे.. ! वस्तु कैसी है ? और कैसे प्राप्त हो ? उसके निर्णय का भी ठिकाना नहीं, उसको धर्म कहाँ से होता है ? भाई ! है न ? उनको पूरी कंठस्थ है। पूरी 'छहढाला' कंठस्थ है। उनके कहने पर यह पढ़ना शूरू किया है। उन्होंने बहुत पुस्तक दिये हैं। व्याख्यान हो गये हैं, उनकी और से छपवाना है। समझ में आया ? आहा..हा... !

भगवान भगवान.. आत्मा को कहते हैं, हे आत्मा ! तेरा स्वरूप आन्द शुद्ध चिदानन्दस्वरूप, वह तो अन्तर की स्वसन्मुख की-स्वस्वभाव सन्मुखता की शुद्ध आचरणरूप, शुद्ध उपयोगरूप एकाग्रता द्वारा ही अपनी निधि प्रगट होती है। दूसरे कोई आचरण से अपने स्वरूप की निधि, शक्ति की व्यक्तता, सामर्थ्य की प्रगटता (नहीं होती)। तत्त्व का सत्त्व जो अन्दर स्वरूप है, उसका बाहर आना, वह अन्तर से एकाग्रता हुए बिना, कभी निधि बाहर प्रगट होती नहीं। कहो समझ में आता है या नहीं ? उसमें है या नहीं ? यह 'छहढाला' है 'छहढाला' ली है या नहीं ? ये तो सादी हिन्दी भाषा है। सातवीं का सुना ?

'**सुनिये**' ऐसा कहते हैं। 'दौलतरामजी' कहते हैं कि, सुनो ! क्या ? '**स्वरूपाचरन अब।**' क्या ? '**जिस होत...**' जिस स्वरूपाचरण के होनेपर, होते हुए '**प्रगटै आपनी निधि...**' क्या (कहा) ? '**मिटै पर की प्रवृत्ति सब।**' अस्ति-नास्ति की। अनेकान्त कर दिया। समझ में आया ? भगवान आत्मा अपने शुद्ध चिदानन्द की शक्ति का स्वामी पूर्णानन्द है, उस ओर की अन्तर एकाग्रता (करने से) निधि प्रगट होती है और विकल्प आदि परप्रवृत्ति है, वह उससे रुक जाती है, उससे रुक जाती है, रहती नहीं। स्वरूप की अन्तर एकाग्रता से निधि प्रगट होती है।

इससे शुभाशुभपरिणाम जो हैं, वह प्रवृत्ति रुक जाती है। आहा..हा..! यह मूल चीज है।

वीतराग परमेश्वर सर्वज्ञदेव त्रिलोकनाथ तीर्थंकरदेव सर्वज्ञपद को प्राप्त हुए, वाणी की ध्वनि निकली। सौ इन्द्र की उपस्थिति में दिव्यध्वनि समवसरण में निकली। अनन्त तीर्थंकर हुए, वर्तमान महाविदेहक्षेत्र में 'सीमंधर' भगवान बिराजमान हैं। बीस विहरमान बिराजमान हैं। 'धोरी धर्म प्रवर्तका।' हमारे पण्डितजी ने रखा है न ? 'धोरी' धर्म के बड़े धोरी। 'धर्म प्रवर्तका।' समवसरण स्तुति है न ? समवसरण स्तुति में है। समझ में आया ? ऐसे भगवान की वाणी में ऐसा आया है, अनन्त तीर्थंकरों की वाणी में ऐसा आया था, अनन्त तीर्थंकर हुए उसमें ऐसा आया।

'दौलतरामजी' कहते हैं कि, सुनिये ! भगवान ऐसा कहते हैं, वह बात हम कहते हैं। अनन्त सन्तों अनन्तकाल से परमात्मा, संत वीतरागी मुनियों, केवलज्ञानियों, तीर्थंकरो, अरे..! सम्यग्दृष्टि भी यही बात अनादि से कहते आये हैं। '**मिटै पर की प्रवृत्ति...**' शुभराग (की) प्रवृत्ति पर की है, वह अपनी नहीं। आहा..हा...! 'निरखे ध्रुव की तारी'-ऐसा आता है, 'आनन्दघनजी'में आता है। श्वेताम्बर में एक 'आनन्दघनजी' हुए हैं। 'आनन्दघनजी' हुए हैं। (वे कहते हैं), अन्तर में एकाग्र होते हैं तो 'निरखे ध्रुव की तारी' यह आत्मा ध्रुव है न ? वह तारे के समान है। उसको अन्तर एकाग्र हो तो निरखते हैं, ऐसा कहते हैं। श्वेताम्बर में एक 'आनन्दघनजी' हुए हैं। मस्त अध्यात्म था, जंगल में रहते थे। बाद में संप्रदाय में छोड़ दिया। लेकिन दुनिया के साथ तो मेल होता नहीं, लेकिन कुछएक बात उन्होंने कही है। बाकी संपूर्ण यथार्थ बात दिगम्बर संतों, 'कुन्दकुन्दाचार्य', 'अमृतचंद्राचार्य' आदि संतों ने जो बात कही- ऐसी बात कहीं तीनकाल में और जगह नहीं। समझ में आया ? सनातन सर्वज्ञ परमेश्वर अनन्त वीतराग के पंथ में चलनेवाले महा दिगम्बर आत्मध्यानी-ज्ञानी मुनियों, 'कुन्दकुन्दाचार्य', 'अमृतचन्द्राचार्य', 'समंतभद्राचार्य', 'पूज्यपादस्वमी', 'नेमिचंद्र सिद्धान्त - चक्रवर्ती' आदि महा धर्म के धोरी, धर्म वे स्तंभ, धर्म के बड़े स्तंभ, जिन्होंने धर्म क्या है उसे दुनिया को कहकर धर्म को टिकाये रखा है। समझ में आया ? वह बात यहाँ परम्परा से आयी, वह 'दौलतरामजी' कहते हैं।

अब, यहाँ कहा, देखो ! '**जिन परम पैनी...**' भाई ! देखो ! कोई कहते हैं कि, ऐसा शुद्ध

आचरण तो चौथे गुणस्थान में नहीं होता। वह तो आठवें गुणस्थान में होता है, ऐसा कहते हैं। वह बात को समझते नहीं। भाई ! तुझे मालूम नहीं, प्रभु ! पहले ही चौथे गुणस्थान में सम्यग्दर्शन प्राप्त होने के काल में ऐसा स्वरूप 'समयसार' में वर्णन किया है, ऐसी ही स्वरूप 'समयसार' में वर्णन किया है, वह बात करते हैं। 'टोडरमलजी' ने भी उनकी चिठ्ठी में लिखा है, वही बात यहाँ लिखी है। 'टोडरमलजी' की चिठ्ठी है न ? 'रहस्यपूर्ण चिठ्ठी' में भी वही बात लिखी है। सविकल्पी, निर्विकल्प ध्यान करते समय क्या होता है ? तो कहते हैं कि, वह अनुभव चौथे गुणस्थान से होता है। ऐसा उसमें (लिखा है)। और 'समयसार' में वही बात पहले से ली है। परन्तु मुनि थे, मुनि की भूमिका से बात की है। बाकी प्रथम में प्रथम, भगवान आत्मा शुद्ध उपयोगरूप आचरण में ही सम्यग्दर्शन का भान होता है। आहा..हा... ! ये उसकी बात करते हैं।

'जिन परम पैनी सुबुधि छैनी, डारि अन्तर भेदिया;' देखो ! अन्दर है, फोटो है ? अन्दर आत्मा, छैनी मारता है, छैनी। ऐसा चित्र बनाया है। भैया ! है उसके पास ? यहाँ है, देखो ! आठवाँ श्लोक है न ? किसका ? 'छहढाला'। यहाँ है। चित्र बनाया है। क्या ? **'जिन परम पैनी सुबुधि छैनी, डारि अनत्र भेदिया;'** क्या कहते हैं ? भाई ! इसमें तो जिन अर्थात् यह लिखा है, परन्तु इसमें साधक जीव लिखा है। साधक ध्यान करते हैं तब, ऐसे लिखा है। देखो ! छठवीं ढाल, आठवीं गाथा। अन्दर लिखा है, समझे ?

भावार्थ में लिखा है, 'जिस समय कोई साधक...' साधक शब्द सामान्य लिखा है। 'जिस समय कोई साधक ध्यान का अवलम्बन लेकर भेदज्ञान के द्वारा अनादिकाल से लगे हुए द्रव्यकर्म, भावकर्म, नोकर्म से अपने आत्मा को भिन्न समझ लेता है...' यहाँ सामान्य व्याख्या कर दी है। साधक अर्थात् सम्यग्दर्शन से लेकर सभी साधकजीव बारहवें गुणस्थान तक हैं। लेकिन नीचे धर्मध्यान की बात-अन्दर एकाग्र होते हैं, उसकी बात यहाँ मुख्यरूप से है।

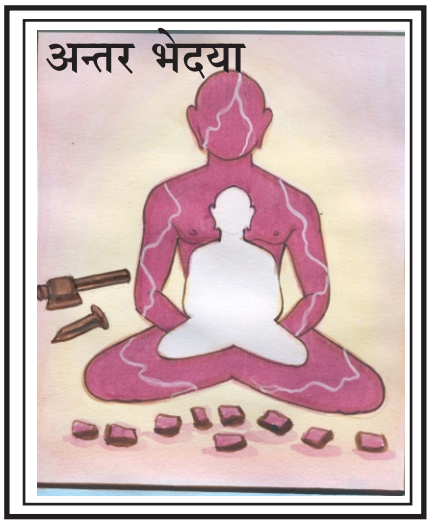

'जो कोई साधक..' जिन की व्याख्या है न ? जिन

अर्थात् जो। मूल में तो जो है। 'जो कोई अत्यंत तीक्ष्ण सम्यग्ज्ञान, भेदज्ञानरूपी छैनी...' देखो ! अन्तर में छैनी मारते हैं। देखो ! अन्दर छैनी है। ये छैनी। बताते हैं। आत्मा चैतन्यरूप शुद्ध आनन्दकन्द (है) और पुण्य-पाप का विकल्प जो राग है, (उन दोनों के) बीच में भेदज्ञानरूपी छैनी मारते हैं। है उसमें ? भैया ! यह नहीं होगा। चित्र है ? नहीं। देखो ! पहले वह बात निश्चित तो करनी पडेगी या नहीं ? निश्चित किये बिना उसका उपयोग, उसका कार्य कैसे कर सकते हैं ?

कहते हैं, भगवान आत्मा, चिद्घन आत्मा देहदेवालय में प्रभु शुद्ध घन, आनन्दकन्द पड़ा है और पुण्य-पाप का राग.. देखो ! भेदज्ञानरूपी छैनी द्वारा पटककर... (फूटनोट में लिखा है), **'जिस प्रकार छैनी लोहे को काटकर दो टूकड़े कर देती है, उसी प्रकार शुद्धोपयोग कर्मों को काटता है और आत्मा से उन कर्मों को पृथक् कर देता है।'** अन्दर एकाग्रता होकर, भेदज्ञान कहो, शुद्ध उपयोग कहो, स्वरूपाचरण कहो, स्वरूप की एकाग्रता कहो। पटटकर अन्तरंग में भेद करके... अन्तर में भेद किसके साथ (करना) ? वह कहेंगे। आत्मा के वास्तविक स्वरूप को, निज भाव को-यह शब्द पड़ा है-निज भाव को। भगवान आत्मा शुद्धस्वरूपी निज स्वभाव सत्त्वरूप भाव, जो तीनों काल नित्य रहता है, ऐसा निज आत्मा का भाव। ज्ञायक, दर्शन, आनन्द, शान्ति आदि त्रिकाल ज्ञायक निज भाव, ऐसा जो आत्मा, उसमें वर्ण, रस, गन्ध, स्पर्शरूप द्रव्यकर्म उससे अन्तर भेदज्ञान करते हैं। देखो यह क्रिया ! यह धार्मिक क्रिया। आहा..हा...!

वर्ण, रस, गन्ध, स्पर्शरूपी द्रव्यकर्म-जड़कर्म और राग-द्वेषादि भावकर्म। शुभ-अशुभ विकल्प जो राग-द्वेष उठते हैं, उसमें तो छैनी मार दी। शरीर, वाणी, कर्म तो नहीं, शुभ-अशुभभाव मैं नहीं, मेरे निज भाव से वे भिन्न हैं। ऐसे निज भाव का अन्तर लक्ष्य करके, विभाव और जड़कर्म है, उसके अन्तर में, भेद में, भेदज्ञानरूपी छैनी मारी। समझ में आया ? राग-द्वेषादि भावकर्म से भिन्न करके, भिन्न करके। वर्णादि, रागादि यह 'समयसार' का श्लोक है।

'अमृतचंद्राचार्य' महाराज। भगवान 'कुन्दकुन्दाचार्य' महाराज दो हजार वर्ष पहले दिगम्बर संत (हुए)। उनके बाद ११०० वर्ष बाद 'अमृतचंद्राचार्य' दिगम्बर वनवासी जंगल में रहनेवाले मुनि (हुए)। उन्होंने टीक बनाई। उनका श्लोक है। समझ में आया ? श्लोक है न ?

भाई ! उसका यह है। कौन-सा श्लोक है ? अजीव अधिकार। ३७वाँ श्लोक है। उसमें से लिया है, घर की बात नहीं की है। ३७ वाँ श्लोक है, देखो !'अमृतचंद्राचार्य' कहते हैं, देखो !

वर्णाद्या या रागमोहादया वा

भिन्ना भावाः सर्व एवास्य पुंसः

'पुंसः' अर्थात् आत्मा पुरुष। भगवान चिदानन्द प्रभु-पुरुष आत्मा। देखो !'**वर्णादिक अथवा राग-मोहादिक भाव कहे वे सब इस पुरुष से (आत्मा से) भिन्न है ते...**'

तेनैवान्तस्तत्त्वतः पश्यतोऽमी

नो दृष्टाः स्युर्दृष्टमेकं परं स्यात् ।।३७।।

'**अंतर्दृष्टि द्वारा...**' भगवान आत्मा का अवलोकन करनेवाले जीव से, सम्यग्दृष्टि के अन्तर अवलोकन में '**ये सब दिखते नहीं...**' विकार, पुण्य-पाप, शरीर, अपना निज स्वरूप दिखते नहीं है। आहा..हा..! उसी श्लोक का अर्थ लिया है, भाई ! ३७ श्लोक, 'समयसार'। '**वर्णाद्या या रागमोहादया वा**' भिन्न है, अन्तर भेदकर। भिन्न है। न्यारा किया। भिन्न करके। अरे..! जगत की चीज। लापसी जैसी चीज.. लापसी कहते हैं ? क्या कहते हैं ? लापसी कहते हैं। लापसी बनाते हैं, नयी कन्या हो तो उसकी माँ कैसे बनाती है, वह ध्यान रखती है। गेहूँ की लापसी बनाते हैं। कैसे बनाती है वह ध्यान रखे। बाद में आटे में बेलन घुमाते हैं। आटे का गट्ठा नहीं बन जाये। कड़क न हो जाये इसलिये। नहीं तो आटा उपर से पके और अन्दर में सफेद रह जाये तो लापसी बराबर अच्छी होती नहीं। तो वह ठीक से ऐसे-ऐसे हिलाये। लड़की देखे कि माँ कैसे करती है ? समझ में आया ? ऐसे ही नहीं गरम होने देते। ऐसे ही करने लगे तो गट्ठे हो जाये और अन्दर आटा कच्चा रह जाये। ऐसे ठीक से हिलाये। ये तो लोग करे वह देखा है, हमने कुछ किया नहीं। लोग करते हैं, उसे देखा है, ऐसे करते हैं। ऐसे हिलाये कि कोई भी कच्चा भाग रह नहीं जाये, सब पक्का हो जाये। नहीं तो कच्चा रह जाये।

ऐसे भगवान आत्मा..! (माता) कैसे करती है तो लड़की ध्यान रखती है, वैसे संतोंने, ज्ञानियों ने जैसे किया और जेसा कहा, उसका ध्यान कर। उसमें एकाग्रता होती है तो ऐसी एकाग्रता होती है, उसका लक्ष्य करना चाहिए। उसका ज्ञान पहले उस प्रकार करना चाहिए।

आहा..हा... ! यहाँ ध्यान रखते हैं या नहीं ? ध्यान रखो।

मुमुक्षु :- वह तो सब एकान्त में होता है।

उत्तर :- कहते हैं कि, एकान्त में नहीं। हम कहते हैं कि, ऐसा हुआ है, ऐसा तुम को कहते हैं, ऐसा यहाँ कहते हैं। दूसरे का काम कौन-सी आँख से देखते हैं ? परन्तु यहाँ कैसे होता है, उसकी विधि क्या है ? वह विधि कहते हैं। समझ में आया ? आहा..हा.. !

कहते हैं, अपने को भिन्न करके। पहले श्रद्धा में तो लिया हो कि, शुभ-अशुभभाव मेरे आत्मा का लाभकर्ता नहीं। देहादि जड़ की क्रिया मेरे लाभ की कर्ता नहीं। मेरे लाभ की चीज तो मेरी चिदानन्द निधि है। उसमें एकाग्र होऊँ तो अन्तर में भेदज्ञान हुआ। भेदज्ञान सिद्धा। **'भेदविज्ञानतः सिद्धः सिध्धा ये किल केचन।'** वह भी 'संवर अधिकार' का 'अमृतचंद्राचार्यदेव' का श्लोक है। अभी तक जितने सिद्ध हुए...

भेदविज्ञानतः सिद्धः सिद्धा ये किल केचन।
अस्यैवाभावतो बद्धा बद्धा ये किल केचन।।१३१।।

अभी तक अनन्त संसार में जितने (जीव) मुक्त हुए, परमात्मा सिद्ध हुए (वे सब) भेदज्ञान से हुए हैं। पुण्य-पाप के भाव की क्रिया से अपना स्वरूप भिन्न है, ऐसा भेदज्ञान करते.. करते... करते... केवलज्ञान पाया है, सिद्ध हुए हैं। **'अस्यैभावतो बद्धा'** अभी तक निगोद से लेकर नौंवी ग्रैवेयक मिथ्यादृष्टि द्रव्यलिंगी दिगम्बर जैन साधु होकर, 'मुनिव्रत धार अनन्तबार ग्रीवक उपजायो, पै आतमज्ञान बिन लेश सुख न पायो।' कहते हैं कि, द्रव्यलिंगी मिथ्यादृष्टि साधु(ने) अपने स्वरूप और राग के बीच भेद किया नहीं, इस कारण से भेदज्ञान के अभाव से बँधा है। पर का भेद नहीं करके बँधा है और पर का भेद करने से बन्ध से छूट जाता है। एक ही उपाय है, दूसरा कोई है नहीं। आहा..हा.. ! समझ में आया ?

ये 'अमृतचंद्राचार्य' महाराज कहते हैं। 'कुन्दकुन्दाचार्य' महाराज के बाद टीकाकार दिगम्बर संत हुए। (वे कहते हैं), अबतक जितनी संख्या में जीवों(ने) मुक्ति प्राप्त की, वे सब राग-पुण्य, दया, दान, शरीर की क्रिया भिन्न करते करते सम्यक् पाया, भिन्न करते-करते चारित्र पाया, भिन्न करते करते केवलज्ञान पाया; और जो कोई निगोद से लेकर जो जीव बँधे हैं, वहाँ

ऐसा नहीं कहा कि, कर्म के जोर से बँधा है। बहुत कर्म कठोर थे, इस कारण से बँधा है ? नहीं। आचार्य कहते हैं, ऐसा नहीं है। राग, विकल्प और शरीर से भिन्न नहीं करता है, पर को एक मानता है, पर को एक मानता है, उस कारण से वह कर्म से बँधता है। आहा..हा... ! समझ में आया ? दो सिद्धान्त कहे।

बन्धन और मुक्ति कैसे होती है ? बँधा तो पर से भिन्न किये बिना, पर को एकत्व मानकर अनादि से बँधा है। मुक्त हुए, वह राग और पर से भिन्न करके सब मुक्त हुए। सम्यग्दर्शन से लेकर केवलज्ञान तक राग से, पर से भिन्न करते-करते, स्थिर होते-होते (मुक्त हुए)। पहले दृष्टि स्थिर हुई, बाद में स्थिर होते-होते पूर्ण स्थिर हो गये। पर से भिन्न करके केवलज्ञान को पाया है। उसमें क्या आया ? पहले कहा था वह। '**मिटै पर की प्रवृत्ति।**' राग बीच में आता है, उसके कारण से आगे बढ़ते हैं-ऐसा नहीं। राग से भी भिन्न करते.. करते.. करते.. करते... करते.. श्रेणी लगाकर केवलज्ञान पाया है। समझ में आया ?

कहते हैं, भिन्न करके, अपना स्वरूप पुण्य-पाप का भाव-रागादि और शरीरादि से, वर्ण आदि से भिन्न करके.. क्या कहते हैं ? अपने आत्मा में.. देखो ! अपने आत्मा में। देखो ! कर्ता-कर्म लगाते हैं, कारक लगाते हैं। अपने आत्मा में। अपने आत्मा का अर्थ शुद्ध चैतन्यमूर्ति-आपने आत्मा में। अपने लिये-संप्रदान आया न ? संप्रदान। अपने आत्मा में वह क्या ? अधिकरण, देखो ! '**निजमांहि..**' अपना शुद्धस्वरूप उसमें ही-यह आधार आया। राग का आधार नहीं, पुण्य का आधार नहीं, विकल्प का आधार नहीं। आहा..हा... !

'**निजमांहि निज के हेतु...**' (अर्थात्) अपने लिये। अपना भेद करके कोई दूसरे को देना है या पुण्यबन्ध हो जायेगा और बाद में स्वर्ग मिलेगा-ऐसा नहीं। अपने लिये, अपने लिये। भगवान शुद्धस्वरूप चैतन्य, पुण्य-पाप के राग से अन्तर में भिन्न करके, अपने आधार से, अपने में-राग में नहीं, अपने लिये, कोई पर के लिये थोड़ा बन्ध हो गया या पर का हित हो गया-ऐसा नहीं। आहा..हा... ! भाई ! 'छहढाला' तो सबके हाथ में है लेकिन समझने की दरकार नहीं। उलटे रास्ते चढ़ जाये और माने कि हमें धर्म के रास्ते पर हैं। हमारा कल्याण हो जायेगा। जाना है पूर्व में और भागता है पश्चिम में। पूर्व की ओर जाना हो तो पश्चमि में जाये ? 'ढसा' है वहाँ,

'ढसा' आता है। 'भावनगर' नहीं आयेगा। एक ओर 'भावनगर' है और दूसरी ओर 'ढसा' है।

भगवान आत्मा निज भाव, शुद्धभाव सन्मुख अपने कारण से हो तो अपने निज भाव की प्राप्ति होती है। उससे विपरीत भाव जो रागादि है, उस ओर जायेगा तो मजदूरी होगी। समझ में आया ? अपने लिये। आ..हा... ! अपना काम करना है, भाई ! कोई दूसरे का काम नहीं है और दूसरे के लिये नहीं है। आहा..हा... ! कितनी धीरज, वीर्य में कितनी पर के ओर की विमुखता और उस वीर्य की स्वभाव सन्मुखता की सावधानी-ऐसा मार्ग है तो उसकी सीख तो पहले ले। डॉक्टरजी !

कहते हैं. अपने लिये, अपने द्वारा। देखो ! क्या कहते हैं ? करण लगाया, करण। कोई साधन होगा ? (कोई) कहता है कि, व्यवहार साधन तो है न ? नहीं। वह तो पहले अपना साधन किया हो तो राग को व्यवहार साधन का आरोप देते हैं। वह साधन नहीं है। भैया ! है या नहीं अन्दर ? देखो ! सब के पास पुस्तक तो है, देखो !

अपने द्वारा। अपना शुद्धस्वरूप पुण्य-पाप के राग से अन्दर भेद करके, अपने में, अपने लिये, अपने द्वारा-आत्मा द्वारा-शुद्धस्वरूप द्वारा, राग द्वारा नहीं। विकल्प-शुभराग हो, उसके द्वारा नहीं, अपने द्वारा। कितना सिद्ध किया है ! समझ में आया ? सम्यग्दर्शन में, शुद्धउपयोग में प्राप्ति के काल में ऐसा होता है और बाद में भी जब-जब आत्मा का-शुद्ध उपयोग का ध्यान होता है (तब-तब) ऐसी स्थिति होती है, तबपर से भिन्न होता है, नहीं तो भिन्न होता नहीं। समझ में आया ?

अपने द्वारा इस आत्मा को। कर्म लिया न ? कर्म.. कर्म.. यह कार्य आया। आत्मा को-यह कार्य आया। अपना कार्य-आत्मा का कार्य। राग का नहीं, राग से नहीं, राग के आधार से नहीं, राग के कारण से नहीं। आहा..हा... ! अभी तो श्रद्धा में बैठे नहीं। उससे होता है, उससे होता है, उससे होता है-ऐसा माननेवाले की दृष्टि में तो मिथ्याभ्रम पड़ा है। समझ में आया ? आहा..हा.. !

भगवान सर्वज्ञ परमेश्वर ने और सन्तों ने कहा मार्ग, उसी मार्ग की विधि 'छहढाला' में हिन्दी में गागर में सागर भर दिया है। समझ में आया ? अर्थ विचारना नहीं, शान्ति देखना नहीं..

अरे...! भगवान ! विवाद क्या करना उसमें ? अन्दर में विवाद का स्थान ही नहीं है। आहा..हा...!

आत्मा को-अपना कार्य पकड़ लिया। अन्तर में शुभाशुभराग से भिन्न आपको पकड़ लिया, आप को ग्रहण किया, आप को परिग्रह बनाया। आहा..! कल दोपहर को आया था न ? आत्मा को ही परिग्रह कहा। परिग्रह नाम पकड़ लिया-ये आत्मा ज्ञायकभाव। अपना अपने आत्मा को और स्वयं अपने से। अपने से, आत्मा से, राग से, पुण्य से, विकल्प से नहीं। आहा..हा...! (राग) हो, जब तक स्थिरता पूर्ण न हो तो हो, परन्तु वह साधन है और उससे आत्मा में स्थिरता होती है या शुद्ध उपयोग और आचरण, संवर, निर्जरा की वृद्धि होती है-ऐसा पर से, राग से है नहीं।

ऐसा अपने से ग्रहण करते हैं। अपने से अन्दर में ग्रहण करते हैं, एकाकार होते हैं, तब उसमें शुद्ध उपयोगरूपी आचरण प्रगट होता है। यह आचरण प्रगट हो, उसको शुद्ध उपयोग कहते हैं, उसको संवर और निर्जरा कहते हैं। समझ में आया ? उससे संवर, निर्जरा शुरू होती है। विशेष कहेंगे... (श्रोता :- प्रमाण वचन गुरुदेव !)

❋

भगवानकी वाणी श्रुत है-शास्त्र है । शास्त्र पौद्गलिक है जिससे वह ज्ञान नहीं, उपाधि है और इस श्रुतसे होने वाला ज्ञान - यह भी उपाधि है; क्योंकि श्रुतके लक्ष्यवाला वह ज्ञान पर-लक्ष्यीज्ञान है । पर-लक्ष्यीज्ञान स्वको नहीं जान सकता; अतः उसे भी श्रुतकी भांति उपाधि बतलाया है । जैसे सत्-शास्त्र सो ज्ञान नहीं, व्यर्थकी चीज है, उपाधि है, वैसे ही यह श्रुतसे हुआ ज्ञान भी निरर्थक है, उपाधि है । आहा हा ! वीतरागकी क्या शैली है । परलक्ष्यी ज्ञानको भी श्रुत (शास्त्र) की भांति उपाधि कहते हैं । स्वज्ञानरूप ज्ञप्तिक्रिया द्वारा आत्मा अनुभूत होता है । भगवानकी वाणी द्वारा आत्मा अनुभूत नहीं होता । (परमागमसार-४६०)